भक्ति-योग

लेखक—

श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती जी महाराज

प्रकाशक—

विश्व शान्ति संघ

१००, हरध्यान सिंह रोड,
करौल बाग, दिल्ली।

प्रथम संस्करण] [सम्वत् २००८

❀ विषय सूची ❀

—:o:—

श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती जी महाराज

❀ प्राक्कथन ❀

—०—

राय बहादुर दीवान गणपतराय जी सी० आई० ई० (C. I. E) के सुपुत्र दीवान सेवाराम जी का जन्म सं. १६०८ ई० में डेरा ग़ाज़ी खां में हुआ। आपकी शिक्षा लाहौर के एफ० सी० कालेज (F. C. College) में हुई। आपको उस समय तहसीलदारी का पद ग्रहण करने को कहा गया परन्तु उन्होंने स्वीकार न किया। आप बड़े प्रभावशाली रहे, तथा आपका जिला अफसरों व अन्य उच्च सरकारी क्षेत्रों में बड़ा मान सम्मान था। आपके प्रति सब छोटे बड़े आदर का भाव रखते थे। आप म्यूनिसिपल कमेटी (Municipal Committee) डेरा गाज़ी खां के **वाईस प्रेसीडेन्ट** (Vice President) लगातार १७ वर्ष तक रहे।

आप मई १६४७ में गर्मी व्यतीत करने के लिये बजाय फोर्ट मनरू के मसूरी में आये और तुरन्त ही पाकिस्तान बनने के कारण आप वापस डेरा गाज़ी खां में नहीं जा सके। तत्पश्चात नवम्बर १६४७ में दिल्ली आये और करौल बाग़ में रहना प्रारम्भ किया। १० मई १६४८ ई० को आपने बड़ी धूम धाम से अपनी इकलौती सुपुत्री आयुष्मती राजकुमारी का विवाह किया और तदुपरान्त गुरूग्राम (गुड़गावाँ) नई कालोनी में गवर्नमेन्ट से एक मकान खरीदा और जनवरी १६४६ में वहां पर चले गये।

आपको अकस्मात ३ जनवरी १६५० को ज्वर हो गया और बसन्त पञ्चमी के दिन, २३ जनवरी १६५० को रात्रि के ११ बज कर ४५ मिनट पर आपके इस पार्थिव शरीर का बाह्य दीपक बुझ गया और उनके साथ इतने उच्च कोटि के कुटुम्ब का जो कि दीवान कुटुम्ब (Diwan Family) के नाम से विख्यात था, एक प्रकार से अन्त हो गया है। आपकी धर्मपत्नि अत्यन्त दुखी हैं, उनकी इहलौकिक पुष्प वाटिका सूख चुकी है, और उनके सब नातेदारों को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ है।

उनकी धर्मपत्नि ने उनके नाम से यह भक्ति-योग छपाने का समूचा खर्चा दे कर और विश्व शान्ति संघ को यह पुस्तक भेट करके समाज सेवा तथा अपनी भगवद्भक्ति का परिचय दिया है।

परमात्मा स्वर्गीय श्री दीवान सेवा राम जी की आत्मा को शान्ति प्रदान करें और उनकी धर्मपत्नि दृढ़ता पूर्वक भागवत मार्ग ग्रहण करके अपना जीवन सफल बनाएँ यही हमारा आशीर्वाद है।

हमें आशा है पाठक गण इसी भक्ति भाव से प्रेरित हो कर इस पुस्तक का उचित लाभ उठाएँगें।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती

दिल्ली
६-६-५१

—o—

भक्ति-योग

(अपरा-विद्या)

—०-(०)-०—

ब्रह्मविद्या और भक्ति

धर्मधर्मान्तरों की जन्मदाता भारत भूमि में भक्ति का आदर तथा प्रचार प्राचीन काल से है। यज्ञ और कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों का प्रारम्भ श्रद्धा और भक्ति के भावों से ही हुआ है। ज्ञान, ध्यान, उपासना योग आदि कौनसा ऐसा ईश्वरपरक साधन है जिसके मूल में भक्ति-भावना नहीं है। बिना भक्ति के ब्रह्मविद्या में सफलता प्राप्त करना असम्भव है।

भक्ति-सोपान काम, राग, विश्वास, श्रद्धा, अनुराग, प्रेम

भक्ति का बीज प्राणीमात्र के अन्तर में निवास करता है। यह पवित्र-भाव भीतर से निकलता है। अधिकाधिक प्रभु-स्मरण से यह भाव उतरोत्तर पुष्ट होता है और अन्त में आत्मसमर्पण का रूप धारण कर लेता है।

काम, राग, विश्वास, श्रद्धा, अनुराग, भक्ति आदि 'प्रेम' के ही अनेक रूप हैं। इन्द्रिय-सुखों की इच्छा और धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र आदि में इहलौकिक क्षणभंगुर स्नेहभाव को 'काम' कहते हैं। यह स्वार्थपूर्ण स्नेह शनैः शनैः पुष्ट होकर प्रवाहरूप या प्रवृत्तिरूप धारण कर लेता है और तब उसको 'राग' कहते हैं। काम और राग दोनों में स्वार्थ और लौकिकता की गन्ध

महकती है और ये दोनों उस माधुर्य से सर्वथा शून्य हैं जिसके कारण 'भक्ति' इतनी प्रिय लगती है। जहाँ विश्वास नहीं वहाँ भक्ति कहाँ ? सत्य तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार से जो पारस्परिक आश्रय की धारणा प्रादुर्भूत होती है उसी प्रेमभाव को 'विश्वास' कहते हैं। काम-राग-विश्वास इहलौकिक स्नेहभावना की उत्तरोत्तर, श्रेणियां हैं। भक्ति के विकास-क्रम का प्रथम-सोपान 'श्रद्धा' है। सत्य को धारण करने को 'श्रत्+धा'—'श्रद्धा' कहते हैं। सचाई का ज्ञान तर्क से हुआ करता है। सचाई का ज्ञान हो जाने से हृदय में उस सचाई की ओर विश्वास तथा सत्कार की भावना जाग्रत होजाती है। विश्वास के अन्तर्गत आश्रय (आसरा) तथा दृढ धारणा दोनों ही उपस्थित हैं। भक्ति का प्रथमसोपान 'ईश्वर में अटल विश्वास और आदरभाव' है। अटूट तथा अटल दृढ़-विश्वास जनित आदर-भाव को ही 'श्रद्धा' कहते हैं। छोटों की अपने बड़ों के प्रति ऐसी स्नेह भावना को 'श्रद्धा' कहते हैं। बड़ों की छोटों के प्रति ऐसी स्नेहभावना को 'वात्सल्य,' 'दया' अथवा 'अनुग्रह' कहते हैं। समवयस्कों के प्रति समवयस्कों की प्रीति 'स्नेह' कहाती है। दृढ़ श्रद्धापूर्वक स्नेहभावना में प्रभु के अनवरत ध्यान में प्रवाहित रहने को 'अनुराग' कहते हैं। राग शारीरिक-सकाम-आसक्ति है। अनुराग भगवन्त में निष्काम-आसक्ति है। अनुराग जब पराकाष्ठा को पहुंच जाता है तब अहंभाव दूर होजाता है और भक्त भगवन्त में सर्वथा लीन होजाता है। इसी अवस्था को 'प्रेम' का आविर्भाव कहते हैं। काम से प्रेम पर्य्यन्त भक्ति के अनेक सोपान हैं। स्थानाभाव से यहां संकेतमात्र ही दिखाया गया है॥

भक्ति का लक्षण

प्रश्न होता है कि 'भक्ति' क्या है ? 'भज् सेवायाम' धातु से भक्ति शब्द सिद्ध होता है। निघण्टु वचन के अनुसार

'सेवा भक्ति रूपास्ति' -सेवा, उपासना, और भक्ति एकार्थवाची शब्द हैं। भक्ति के सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और श्रीमद्‌भागवत हैं परन्तु उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ आजकल दो ही मुख्य माने जाते हैं- शाण्डिल्य और नारद-भक्ति सूत्र। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'- शाण्डिल्य-सूत्र के अनुसार ईश्वर के प्रति परम् अनुराग को भक्ति कहते हैं। 'परमात्मनि यो रतो विरक्तोऽपरमात्मनि'-परमात्मा में जो अनुरक्त होते हैं वे प्रभु के अतिरिक्त समस्त विषयों से विरक्त रहते हैं। नारदभक्ति सूत्र के अनुसार 'सा त्वस्मिन् परम्प्रेम रूपा'-ईश्वर के प्रति परम्प्रेम को भक्ति कहते हैं। अनुराग से प्रेम का आविर्भाव होता है। अनुराग तो एक मनोवृत्ति है, अतः प्रयत्न से सिद्ध होती है। 'प्रेम' आत्मा का गुण है। केवल इसी प्रेम पर विश्व का समस्त कल्याण, उदय तथा आनन्द निर्भर है। यदि प्रेम का साम्राज्य समझ में आजाय तो नरक स्वर्ग में परिणित होजावे। 'ममता और मोह' भी प्रेम ही के रूप हैं। यदि माता को ममता न हो तो संसार का पालन-पोषण बन्द हो जाय। यदि श्रद्धा और दया न रहे तो छोटे-बड़ों का सम्बन्ध सब छिन्न-भिन्न होजावे और समस्त व्यवस्था तथा मर्य्यादा का संसार से लोप हो जाय। इसी प्रेम से भगवान संसार की नित्य रक्षा करते हैं। समस्त संसार प्रेम के वशीभूत है। भगवान भी भक्त के वश में रहते हैं- 'भक्तिवशः पुरुषः'। जगत पालन का रहस्य प्रेम में छिपा हुआ है। भगवान की इस महती दया को ध्यान में रखकर भक्तियोग द्वारा प्रेमी भक्त अपने सांसारिक संकुचित-प्रेम को ब्रह्माण्ड में विस्तृत कर देते हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियां भक्तों की सेवा को अपना गौरव समझने लगती हैं। प्राणिमात्र भक्त को मित्रदृष्टि से देखने लगता है और शनैः शनैः भक्त उस प्रेमाम्बुधि की प्यारी गोद में विलीन होजाता है। यही भक्तियोग की उत्कृष्टता तथा

व्यापकता का सच्चा प्रमाण है। भगवान 'सच्चिदानन्द-स्वरूप' है। आनन्दस्वरूप ही प्रेम का अनन्तसूर्य है। 'आनन्दः प्रियातानीव'- आनन्द का ही विस्तार 'प्रियता' 'स्नेह' अर्थात् 'प्रेम' है। 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-सत्ता, चेतना और आनन्द ही भगवान है। उस आनन्द की ही एक किरण प्रेमरूप होकर आत्मा में स्थित है। उसी किरण पर चढ कर 'सत्+चित्' (जीव) भगवान के आनन्द का स्वाद ले सकते हैं। प्रेम २ पुकारने से प्रेम नहीं होसकता। प्रेम मोल भी नहीं मिलता। प्रेम माँगने से प्रेम नहीं मिलता। प्रेम करने ही से प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम का फल प्रेम ही है। आत्मारूपी प्रेम के पुष्पित होने पर प्रेम की सुगन्ध स्वतः महकने लगती है। सारांशः

भगवत् प्रेम से द्रवीभूत चित्त की, भगवच्चरण में, अविच्छिन्न स्नेह-धारा प्रवाह को 'भक्ति' कहते हैं॥

भक्ति दो प्रकार की है :

भक्ति के प्रकार

१. वैधी–भक्ति–अर्थात् साधन-भक्ति। इसके भी दो भेद हैं—

(अ) रागानुगा-भक्ति और (आ) अनुराग-भक्ति। और २. स्वाभाविक अर्थात् साध्य-भक्ति अर्थात प्रेम भक्ति॥

ब्रह्मविद्या

अधिकांश लोग परब्रह्म-परमात्मा की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन 'ब्रह्मविद्या' है। वेदान्त-दर्शन के सूत्रकार बादरायण ने 'ब्रह्म' के साथ 'विद्या' शब्द-का प्रयोग किया है। 'विद ज्ञाने' धातु से 'विद्या' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। वेदन, ज्ञान, विद्या आदि पर्य्यायवाची

शब्द हैं। सूत्रकार ब्रह्म विद्या को ही मोक्षरूपी परम्पुरुषार्थ का साधन सिद्ध करते हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति ब्रह्मविद्या के अनेक अवान्तर-विभाग हैं। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'-ब्रह्मसूत्र के अनुसार विद्याएँ उपासनारूप हैं। उपासना ध्यानरूप है। अविच्छिन्न एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूपी ज्ञानधार को 'ध्यान' कहते हैं। वेदन (ज्ञान), ध्यान, उपासना, निदिध्यासन आदि शब्द वेदान्त के 'मोक्षोपाय-कथन' प्रकरण में एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। 'विदि' और 'उपासि' धातु भी एकार्थवाची हैं। उपासना और सेवा भी पर्य्यायवाची शब्द हैं। 'भज सेवायाम्' धातु से 'भक्ति' शब्द सिद्ध होता है। सेवा भक्तिरूपास्ति'- सेवा भक्ति-रूपा है। विषयरहित, परम्प्रेमरूप ध्यान की अविच्छिन्न धारा को 'भक्ति' कहते हैं। 'ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'। इस प्रकार 'मोक्षोपायकथन' में वेदन, दर्शन, ध्यान, निदिध्यासन, उपासना, सेवा, ध्रुवा, स्मृति, भक्ति आदि शब्दों का समन्वय मोक्षोपाय विधान के अन्तर्गत हैं। 'विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात्'- इस ब्रह्मसूत्र से समस्त ब्रह्मविद्याएँ तुल्यफल-दायक होने से वैकल्पिक हैं। स्पष्ट है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति ब्रह्मविद्या में ओत-प्रोत हैं और ये एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। ब्रह्मविद्या और मोक्षसाधन एक ही बात है। अतः मोक्षसाधन में ये तीनों अंग ओत-प्रोत हैं और उनको पृथक नहीं कर सकते। "अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये"- ये सब एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध एक दूसरे के सहायक और आश्रित हैं। सब का फल तथा लक्ष्य वही है। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'- इस से भिन्न मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं हो सकता॥

— (०) —

❁ १. वैधी-भक्ति ❁

— ० —

वैधी-उपाय-भक्ति-साधन-भक्ति का स्वरूप

वैधी—उपाय-भक्ति को साधन-भक्ति या अपराभक्ति भी कहते हैं। स्वाभाविक को साध्य-भक्ति या पराभक्ति भी कहते हैं। यह दोनों ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत हैं। 'उपासना' ब्रह्मविद्या में बताये हुये मोक्ष-साधनों में से एक है। उपासना ध्यानरूप है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से 'ध्यान' शब्द बनता है। पराशर के अनुसार

"तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिः स्पृहा ।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गै निष्पद्यते तथा"॥

अर्थ- विषय-वासना रहित (अर्थात् निराकांक्षी) एकमात्र भगवद्रूप प्रत्यय सन्तति को 'ध्यान' कहते हैं। यह 'ध्यान'- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारण अर्थात्- योग के प्रथम ६-अंगों द्वारा निष्पादित होता है। परमात्मा से भिन्न समस्त विषयों से निस्पृह तथा एक मात्र अपने प्यारे प्रीतम सच्चिदानन्द स्वरूप की अविच्छिन्न प्रेमपूर्ण स्मृति-परम्परा के प्रयत्न को अर्थात् अखण्ड स्नेह धारा में सदा सर्वदा एकमात्र भगवान के ध्यान को 'उपाय-भक्ति' कहते हैं। भक्ति के अनेक भेद हैं-सात्विक, राजस, तामस आदि। परन्तु, निर्गुण भगवान में ही ध्यान के प्रवाह को निरन्तर लगाये रखना अर्थात् निर्गुण-भक्ति की ही प्रधानता धार्मिक-ग्रन्थों में मानी गई है। निर्गुण-

भक्तियोग का सजीव वर्णन निम्न श्लोक में भली भांति दिया गया है :

"मद् गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार सूर्य्य की किरणों के स्पर्श मात्र से द्रवित हिमवर्ती गंगा जी का प्रचण्ड निम्नाभिमुख प्रवाह, पर्वतों को काटता तथा समस्त प्रतिबन्धों को हटाता हुआ, समुद्र की ओर नित्य बहता रहता है ; उसी भांति निर्गुण-भक्ति में भगवान के गुण श्रवण मात्र से ही प्रभावित भक्त के 'प्रमाथि, बलवान तथा कठोर' मन का मनोरथाभिमुख प्रवाह, विषय-वासना तथा अनेकानेक विघ्नबाधाओं को ठुकराता हुआ, उस सच्चिदानन्दस्वरूप की ओर अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने लगता है ॥

वास्तव में, जब चित्त किसी ओर स्वार्थ पूर्ति के लिये आकर्षित होता है तब ऐसा आकर्षण बन्धन का हेतु ही होता है । परन्तु जब, मन केवल गुणों के कारण ही गुणी पर अनुरक्त होजाता है और वह भी केवल श्रवणमात्र से, तो वह अनुराग स्वाभाविक तथा दृढ़, अतः नित्य, स्थाई और एकरस होता है । कालीदास ने ठीक ही कहा है - 'ईप्सित मनोरथों की ओर झुके हुए स्थिर-निश्चय वाले मनको तथा ढाल की ओर बहने वाले जल को कौन रोक सकता है'?

"क ईप्सितार्थ स्थिर निश्चयंमनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्" ।

—o—

❀ रागानुगाभक्ति ❀

—०-(०)-०—

भक्तों की विभिन्न अवस्थायें

वैधी-भक्ति दो प्रकारकी हो ती है :- (अ) रागानुगा भक्ति और (आ) अनुराग भक्ति। 'स्नेह' मानसिक गुण है। अतः प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। स्नेह की क्रियाओं से स्नेह पहचाना जा सकता है। ये क्रियाएँ अनेक रूपों में होती हैं। परन्तु प्रसिद्ध आठ चेष्टाओं- 'स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य (पीला पड़जाना, रँग फीका होजाना), अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और सुध-बुध न रहने-का सुन्दर वर्णन निम्न-शब्द में दर्शाया गया है :

शब्द–१

भक्तन की गति कौन सुनावे ॥

तन स्तम्भ शिथिल इन्द्रिन ह्वय, मन निर्चेष्ट निहारे।
कम्प स्वेद से होवत लथपथ, मुखपीरो पड़जावे ॥ १ ॥
प्रेम के आँसू बहत हैं निशदिन, गदगद बोल न पावे।
सुमिर पुलक सच्चिदानन्द ध्यावे, सुध-बुध सब बिसरावे ॥२॥

साधारणतः भक्ति की तीन अवस्थाएँ होती हैं :-

१ कच्ची-सच्ची भक्ति, जिस में हास, रुदन आदि शारीरिक चेष्टाएँ स्पष्ट दीखती हैं;

२ कच्ची-पक्की भक्ति, जिसमें उन्माद आदि मानसिक चिन्ह दीख पड़ते हैं ; और

३ सच्ची-पक्की भक्ति, जिसमें बाहरी सक्रियता के चिन्ह लुप्त होजाते हैं और आन्तरिक गुप्त क्रिया का स्पन्दन होता रहता है॥

वरण

वास्तव में भक्ति की तीन ही गति होती हैं। जब भगवान की कृपा से कोई भाग्यशाली प्रेम के चुनाव में आजाता है तो इसकी अग्नि-परीक्षा होने लगती है। इसको भक्ति की 'वरण अवस्था' कह सकते हैं। इस अवस्था में 'वरण' हो जाने के पश्चात्, सांसारिक शुभ-चिन्तकों की भूत-लीला से त्रस्त भक्त, प्रीतम दर्शन की चिन्ता में मग्न कभी रोते हैं, कभी नाचते-गाते हैं, कभी हंसते-मुसकराते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी भगवान के चरित्र वर्णन करते हैं, कभी मौन हो जाते हैं, कभी प्रभु अनुकरण करते हैं और कभी ध्यानावस्थित रहते हैं। इस प्रकार की भक्ति के साधनों को भक्तवर प्रह्लाद ने तीन संज्ञाओं में संज्ञित किया है :

१. श्रवण, २. कीर्तन, और ३. स्मरण

वरणावस्था का जीवित चित्र निम्न शब्द में चित्रित है :

शब्द—२

तड़पत बीत रहे दिन रैन ।
जबसे प्रीतम नाम तिहारो, श्रवण पड़ो निज बैन।
रोवत विलपत ध्यान तिहारो, तन-मन खोयो चैन ॥ १॥
आहें सिसकन अश्रुन सम्पत, अद्भुत पाई दैन।
तन ऊभर जग लागत विषसम, कित धाऊँ तुम लैन॥२॥
आशा तुम्हरी पोषत लगना, प्रभु विश्वासी नैन।
सच्चिदानन्द की जोहत रहियाँ, देवत स्नेह के सैन ॥ ३॥

वियोग

इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भक्त निज रंग में रंग जाता है। भक्ति की इस दूसरी अवस्था को 'वियोग' कहते हैं। १. दर्शन से पूर्व, २. उपस्थित वियोग और ३. वियोग के पश्चात की तीन अवस्थाओं को - १. भविष्य-विरह, २. वर्तमान-विरह और ३. भूत-विरह कहते हैं। इन विरहों का सचित्र वर्णन निम्न तीन शब्दों में क्रमशः दिया गया है :

शब्द-३
(भविष्य-विरह)

बिरहा रे, तेरी बलिहारी ॥
सूनो लागत सब जग मोकू, बिन-उन कुछ न सुहारी।
प्राण निगोरे निकसत नाहीं, मौतहु देख डरारी ॥ १ ॥
दूर देश में पिया बसत हैं, कहा करूं कस जाऊं री।
सच्चिदानन्द की योगिन घूमूं, डाल गले प्रभु माला री ॥ २ ॥

शब्द-४
(वर्तमान-विरह)

कित जावत हो प्रीतम मोर ॥
भेदो हृदय प्रेम के तीरन, शूल कसक हिचकोर।
रोवत बिलखत सिसकत तुम बिन, हिय मम आहन शोर ॥१॥
मैं मछरी तुम हो मेरे नीरा, तुम चन्दा मैं चकोर।
सच्चिदानन्द बिन कैसो जीवन, जानें न दूं चित चोर ॥२॥

शब्द–५

(भूत-विरह)

अब कब दर्शन दोगे प्यारे ॥
तुम आनन्द-विभोर-प्रभु, मोहे, विरहा अगिन जरावे ।
तन धारत रहती ये वियोगिन, आशा शरण सहारे ॥१॥
एकहि बार दरश चाहे प्रीतम, दूर हीं से झलकोर ।
सच्चिदानन्द चरण की छैयां, जीवन प्राण हमारे ॥२॥

सांसारिक शुभचिन्तकों के तायनें, विघ्नबाधायें, बदनामी और गालियों की बोछार-मार और धमकियां तब तक ही अत्याचार करते रहते हैं; काम-क्रोध-लोभ-मोह- तथा अहंकार रूपी पांच चोर उसी समय तक शरीर के रत्नों को लूटते-खसोटते रहते हैं; शरीर-रूपी बन्दीग्रह, जात-पांत के बन्धन और लाज-शरम तबतक ही कारागार हैं, माया तथा ममतारूपी बेड़ी तभी तक जकड़े रहती है, जबतक कि मनुष्य भगवान का नहीं हो जाता। विरह का दावानल समस्त सांसारिक झंझटों, विषय-वासना और विकारों को भस्मसात कर देता है। भगवान की शरण से सब दुःख दूर हो जाते हैं। 'मृत्युरस्मादपैति'– मृत्यु भी उससे दूर भागती। त्रिलोकी की सारी सम्पद तथा स्वर्ग के समस्त ऐश्वर्य, प्रभुत्व, आदर, मान उसके पीछे २ स्नेहपूर्वक हाथ-जोड़े दौड़ा करते हैं। प्ररन्तु. भक्त उनकी ओर आँख उठा-कर भी नहीं देखता। भगवन्त के अतिरिक्त न उसको किसी का चिन्तन (ध्यान) है और न कोई आकाङ्क्षा ही है॥

"न शोचति न काङ्क्षति"

इस प्रकार की भक्ति के साधन भी भक्तवर प्रह्लाद ने तीन बताये हैं: १ पादसेवत, २ अर्चन और ३ वन्धन ॥

साधारणतः विरहा की दस दशायें होती हैं :

१. चिन्ता, २. जागरण, ३. उद्वेग, ४. शारीरिक कृशता, ५. मलीनता, ६. बिरह-प्रलाप, ७. विरह-वेदना, ८. विरह-उन्माद, ९. विरह-मूर्छा और १०. विरह-मृत्यु। इन में से प्रथम छः तो वरणावस्था में 'कची-सची' भक्ति के प्रधान अंग हैं। वेदना-और उन्माद 'कची-पकी' भक्ति के मुख्य-अंग हैं। और, विरह-मूर्छा तथा विरह-मृत्यु 'सची-पकी' भक्ति के अनिवार्य अंग हैं। इन दस दशाओं का सजीव-दर्शन निम्न शब्दों से प्रदर्शित है॥

१ चिन्ता में सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते प्रीतम की चिन्ता रहती है। दिन-रात उसकी प्यारी सूरत आंखों के सामने नाचती रहती है॥

२ जागरण- प्यासे को नींद कहां ? नींद तो आखों में आती है। आंखें रूप की प्यासी हैं। नींद कैसे हो ? नींद आवे तो कदाचित् स्वप्न में ही दर्शन होजावे। परन्तु, ऐसे भाग्य कहां ? हृदय भी खाली नहीं है। वहां भी प्रीतम की छवि बसी हुई है॥

शब्द–६

नैना प्रीतम दरश दिवानें॥

प्यासी अंखियां मृगतृष्णा सम, चहुं दिशि रूप निहारें।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, स्वप्नेहु मोहे बिहानें॥१॥

जोहत जागत सुध नहिं रहियां, जीवन आश बितानें।
सच्चिदानन्द घूम रहीं अखियां, हिरदे मांहि समानें॥२॥

———

३ उद्वेग - विरह-जनित व्याकुलता को 'उद्वेग' कहते हैं।

शब्द—७

व्याकुल बिरहिन तोरी ॥

मछरी सम प्रीतम-बिन तड़पूँ, कोऊ तो तरस करोरी।
तजौं देह प्यासी चातक सम, स्वांति बून्द बरसोरी ॥१॥
असहाय गिरी अधपर मैं हूं, कोउ तो उन्हें जतावोरी।
सच्चिदानन्द प्रीतम निकट रहो, टूटी आस बंधाओरी ॥२॥

———

४ कृशता—प्यारे की याद में भूक-प्यास, नींद आदि सब भाग जाते हैं और प्रीतम की चिन्ता शरीर को खालेती है ॥

५ मलीनता—चिन्ता में मग्न एक ही की चिन्ता कर सकता है। यदि प्रभु की चिन्ता और ध्यान है तो तन से वेसुध है, बाल बिखरे हैं, मैल चिकट रही है, वस्त्रों की सुध नहीं है।

शब्द—८

चित दे सुनो हमारी पीर ॥

बिरह तिहारी भई बावरी, चिन्ता खात शरीर।
शून्य हृदय इक पी-पी टेरत, अंखियां भई बिन नीर ॥१॥
भूक नींद अरू प्यास बिहानी, तन मलीन बिन चीर।
सच्चिदानन्द मम आश रखाओ, हिये बंधाओ धीर ॥२॥

६ विरह-प्रलाप—वियोग के आवेश में भक्त अपने पराये को भूल जाता है और बहकी २ बातों द्वारा क्रन्दन करने लगता है।

शब्द—९

करूणासिन्धु, हे प्रीतम नाथ !

मोर पंख पीछे चुपछिप कर, काहे नृत्य दिखाते हो ?
तरसाते तड़पाते प्रिय तुम, छाँड़ूं न तुम्हरो साथ ॥ १ ॥

दूर से आवत राग मधुर मैं, पवन संदेश परखती हूं ।
सच्चिदानन्द, हे समरथ सैंयां ! डूबत पकड़ो हाथ ॥ २ ॥

———

७ विरह-व्याधि—विरह-वेदना का रोग ॥

शब्द—१०

प्यारे ! चुभत हिये में शूल ॥

खटकत रहे तीर जस घायल, घावन में जस पीर रमात ।
क्षणहुं न बिसरूँ प्रीत पुरानी, क्षमा करो प्रभु भूल ॥ १ ॥

भोगविलास सर्पसम विषधर, नरक अग्नि सम देह तपात ।
सच्चिदानन्द प्रेम की बुंदियां, हरा करो हिय फूल ॥ २ ॥

———

८ विरह-उन्माद—विरहिणी की अटपट विचित्र चेष्टाएं ॥

शब्द—११

बिरहिन भूली सुधबुध री ॥

कबहूँ रोवत हँसत है खिलखिल, बिना बात धूलन में लोटत ।
थर-थर कांपत बनबन डोलत, बात करे सब अटपट री ॥१॥

मोही सी भूली सी बिसरी, पूंछे से उत्तर नहीं देत ।
सच्चिदानन्द की हंस-हंस बतियां, करत खिसानी नेहरी ॥२॥

– – – –

९ विरह-मूर्छा—वियोग में भक्त के तन-मन की अवस्था मूर्छा-वस्था के समान शिथिल होजाती है ॥

शब्द—१२

सूख गई ; पिञ्जर भई देह ॥
प्रीतम चिन्ता अंग-अंग व्यापी, सूरत भई दिवानी ।
थाके तन मन बुद्धि बिहानी, हंसी खिसी भई खेह ॥ १ ॥
बिरह मूर्छा तन मुरझाने, निकसत नाहीं बोल ।
प्राण बसत हैं प्रभु चरणन में, सच्चिदानन्द में नेह ॥ २ ॥

— — — —

१० विरह-मृत्यु—विरह में भक्त की मरणासन्न अवस्था हो जाती है । मृत्यु तो भली है । मरा, और सब खेल समाप्त हुआ । परन्तु इस अवस्था में तो जीते जी मृत्यु का त्रास चिरकाल तक सहन करना पड़ता है । यह प्राणों की अन्तिम आहुति है ॥

शब्द—१३

चरण शरण में प्राण निसारू ॥
टेरत तन मन सुध-बुध हारी, सिसक रहे अब प्राण ।
बिरहिन मछरी तड़पत जलबिन, पूरण आहुति अबकी वारू ॥१॥
जीए मरी मैं प्रीतम कारण, जीऊं उन हित मरू उन पावन ।
जीवन मरण की आश छोड़ कर अब सच्चिदानन्द जीव विहारू ॥२॥

मिलन

विरह की अन्तिम अवस्थाओं में भी भक्तवर प्रहलाद ने तीन साधन बताये हैं :

१ दास्यभाव, २ साख्य-भाव और ३ आतम-निवेदन ।

इस प्रकार नवधा-भक्ति के उत्तरोत्तर रूप निम्न भांति हैं । तनुजा वित्तजा सेवा के भी ये ही अंग हैं :

❀ नवधा-भक्ति ❀

१. कच्ची-सच्ची भक्ति वरणावस्था	२. कच्ची पक्की भक्ति वियोगावस्था	३. सच्ची-पक्की भक्ति मिलन
१ श्रवण, २ कीर्तन, ३ स्मरण,	४ पादसवन, ५ अर्चन, ६ बन्धन्	७ दास्यभाव, ८ साख्यभाव ९ आत्मनिवेदन
चिन्ह–शारीरिक	चिन्ह–मानसिक	चिन्ह–तनमन की पूर्णआहुति
१ चिन्ता, २ जागरण, ३ उद्वेग, ४ कृशता, ५ मलीनता, ६ प्रलाप	७ विरह-वेदना ८ विरह उन्माद	९ विरह मूर्छा १० विरह मृत्यु

— तनुजा वित्तजा सेवा और नवधा भक्ति के साधन —

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

नवधा भक्ति

भगवद्‌उपदेश तथा वेदादि का श्रवण, गुणगान (कीर्तन) तथा उसका (- नाम का जाप या रूप) स्मरण करना शारीरिक साधन हैं। इनमें सफलता प्राप्त होने पर मानसिक क्रिया करनी पड़ती है। भक्त को भगवत शरण पकड़ कर अंहकार को उनके चरणों पर झुकाना पड़ता है। मन में दीनता तथा अल्पज्ञता के भाव तभी जाग्रत होते हैं जब भगवान की महत्ता पर भक्त को पूर्ण विश्वास होजाता है। कच्चे से ही सदा सारे फल पक्का करते हैं। नक़ल करते २ एक दिन असल होजाता है। कच्चे-मन के सूतों को वट वट कर ही पक्की रस्सीरूपी भक्ति बन जाती है। रस्सी में बंधा हुआ मन रूपी हाथी भगवान की सेवा सच्चे दास और सखा भाव से करने लगता है और अन्त में तन-मन की सुध न रहने पर आत्मसमर्पण की वारी आजाती है और भक्त सर्वतोभावेन अपने आपको भगवान की दया पर छोड़ देता है और अपने आपे को सर्वथा खो बैठता है। नवधा भक्ति को तनुजा वित्तजा सेवा भी कहते हैं॥

रागानुगा भक्ति

भक्ति की वरणावस्था में, प्रीतम के वियोग से दिनरात प्रभु के ध्यान में रोते बिलखते तथा तड़पते हुए बीतते, मिलन की आशा तथा इच्छा उत्तरोत्तर बढती जाती है। इस दशा में तन की सुध नहीं रहती और संसार से वैराग होजाता है। 'वियोगावस्था' में विरहोदय का होना भक्तिपुष्प की सुगन्ध समझना चाहिए। इस सुगन्ध के आवेग से मानसिक-वासनाएं तथा विकाररूपी दुर्गन्ध दूर होजाती है। विरह-ताप में समस्त मानसिक मल ही नहीं वरन् जप-तप भी दाह होकर छिन्न भिन्न होजाते हैं और अन्तरिक्ष के विस्तृत वातावरण में निर्मल शक्ति सम्पन्न करते हैं। मन की ऐंठन

बट बट कर भक्ति-दीप की बत्ती बन जाती है। 'मिलनावस्था' में तन-मन की सुध नहीं रहती। केवल प्राण ही टिमटिमाते रहते हैं। आशा ही जीवन का सहारा रहता है। 'मिलन' अनुभव विषय है। इसक वर्णन करना अतीत का काम है। अनुभव होने पर वर्णन करने की शक्ति नहीं रहती। मिलन के सम्बन्ध में निम्न शब्द से अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता :

शब्द-१४

कस मिलन की बात बताऊं ।

प्रीतम प्यारे प्राण हमारे, दर्शन दीन्हें आन ।
तन मन की सब सुध बिसरानी, अब कस सखी जताऊं ॥१॥

अनुभव वरणन समरथ नाहीं, जीभ न अनुभव पाई ।
लेत बलैयां मैं सच्चिदानन्द, आनन्द मांहि समाऊं ॥२॥

रागानुगा भक्ति सोपान

भगवान् आनन्दमय हैं। आनन्दत्व का उपभोक्ता न हो तो आनन्द की सत्ता ही कैसी? भक्ति शास्त्र के अनुकूल सृष्टि की रचना का मूल कारण यही है। उपनिषद कहते हैं —

"आनन्दाद्धयेव खल्विमानि, भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति"।

जीव आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं, आनन्द ही में जीवन व्यतीत करते हैं, आनन्द में प्रवेश किये हुए आनन्द ही में

विलीन होजाते हैं। आनन्द प्राप्ति जीव का स्वाभाविक धर्म है। जीव सदा ही आनन्द चेष्टाओं में लगा रहता है। समस्त सृष्टि भगवत्प्रेम की शिक्षा दे रही है। शान्त, दास्य, साख्य, वात्सल्य और माधुर्य्य- इन पांचों भावों में भगवत्प्रेम का आभास झलकता है। आनन्द प्राप्ति की अभिलाषा से मनुष्य एक पदार्थ से दूसरे और दूसरे से तीसरे पर निरन्तर आता-जाता है. परन्तु तृप्ति नहीं होती। कभी वस्तु रूपान्तरित हो जाती है तो कभी दुख-सुख। वही वस्तु कभी सुखदायक प्रतीत होती है तो कभी दुखदायक। जिसकी प्राप्ति के लिये जीव आज व्याकुल है कल उसी की ओर मुख भी नहीं करता। इसी झंझट में मनुष्य प्रतिक्षण दिनरात जीवनपर्य्यन्त फंसा रहता है। किसी वस्तु की इच्छा सदा बनी रहना, किसी पदार्थ की कमी नित्य प्रतीत होना, तृप्ति न होना और उसकी खोज में नित्य व्याकुल रहना अर्थात् कमी (न्यूनता) को पूरा करना ही 'काम' कहलाता है। 'काम' मन की एक वृत्ति है। तृप्ति न होने का कारण यह है कि उसी पुरानी प्रीति और आनन्द सागर की गोद में जीवन व्यतीत करने की प्यारी याद जीव को चैन से नहीं बैठने देती और जब इन नाशवान पदार्थों में वह नित्य अविनाशी सुख नहीं मिलता तो वही व्याकुलता और वही खोज पुनः २ चालू होजाती है। 'यथा ब्रह्माण्डे तथापिण्डे'। वही आनन्द का सूर्य्य, 'प्रेम' रूप होकर जीवात्मा का स्वभाव बना हुआ है, वही 'राग'- रूप होकर मन में प्रतिष्ठित है और उसी की छाया 'काम'-रूप होकर शरीर में कांटे की भांति खटकती रहती है और जीव को एक क्षण भी चैन से नहीं बैठने देती। वही मन में 'राग' रूप धारण कर चुम्बक की सूई की भांति उस नित्य 'सच्चिदानन्द' की ओर संकेत करती हुई सदा ही नाचती रहती है और प्रत्येक

स्थान से मुंह की खाकर केवलमात्र उसी] शुद्ध बुद्ध ध्रुव पर स्थिर होती है। जीव हंस है। आनन्दसरोवर के मोती उसका आहार हैं। जगत के ताल तलैयों के कंकरों से हंसों की भूक नहीं मिटती। कंकर खाने से तो पीड़ा, वेदना और व्याकुलता और बढती है। जीव सन्तों की शरण लेता है और चिकित्सा चाहता है। सन्त एक ही वाक्य में अनुपान भी बतादेते हैं और औषध भी देदेते हैं- "प्रेमी! निजघर वापस चल"। वास्तव में, मनुष्य इस संसार में परदेसी है। यहां अतिथि के रूप में रहता है और फिर निजदेश को वापस चला जाता है।

शब्द–१५

–अनुपान–

मूढ न हो, तू भजले नाम ॥

बालापन खेलन आसक्ति, तरूणाई में तरुणी-रक्ति।
वृद्ध भये चिन्ता में मग्ना, सच्चिदानन्द केहि ध्यान ?

——

शब्न–१६

—चिकित्सा—

पञ्चभाव के जग आधीन ॥

'काम' सिखावत् 'राग'-भक्ति नित, 'भाव' उदित 'अनुराग' बढावत
'अनुराग' किये निज उछरत 'प्रेमा', 'शरणागति भई लीन ॥१॥
नश्वर जगसे भाव हटाकर, गुरू चरणन जो अरपण कीन।
पारस परस लोह हो सोना, सच्चिदानन्द-रंग में रंग दीन ॥२॥

मिलनावस्था तक रागानुगा-भक्ति का अधिकारी बनने के लिये तथा पहुंचने के लिये जिन २ सीढ़ियों पर चढ़कर भक्त को जाना अनिवार्य है उनका संक्षिप्त चित्र निम्न सोपान में प्रदर्शित किया गया है :—

❁ रागानुगा-भक्तिसोपान ❁

जिज्ञासु के लक्षण*	कच्ची-पक्की भक्ति के लक्षण	परिपक्व भक्ति के लक्षण
१ नित्य अनित्य वस्तुओं का ज्ञान । २ इहलौकिक और पारलौकिक समस्त तृष्णाओं से मुक्ति । ३ साधनसम्पन्नता i वशीभूतइन्द्रियें=शर्म ii मनोरोध=दम iii निष्काम कर्म करना=उपरति iv द्वन्द्वों में साम्यभाव=तितिक्षा v श्रद्धा vi एकाग्रता ४ मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र तड़प ॥	१ गुरु समीप गमन, सत्संग और उपदेश, प्रश्नोत्तर । २ गुरु-सेवा । ३ श्रवण, मनन और निदिध्यासन । ४ तत्वनिर्णय ॥	१ गुरु में अनन्य-भक्ति । २ गुरु की सर्व प्रकार से सेवा । गुरु की संरक्षता में पूर्ण विश्वास तथा दृढ़ श्रद्धा । ३ उपदेशानुसार भक्ति के साधन । ४ दर्शन प्राप्ति ॥

*नोट—जो परिपक्व-अवस्था में लक्षण कहलाते हैं, वही परिपक्वता प्राप्त करने के साधन हैं ॥
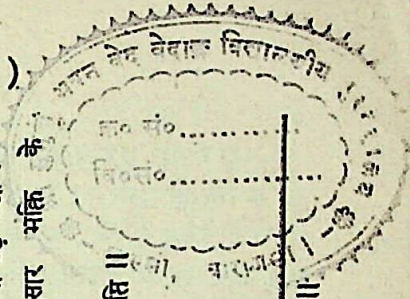
राग और ममत्व एक साथ ही रहते हैं। प्रेमी अपने इष्ट
को अपना ही बना कर रखना चाहता है। "ना मैं देखू और को
ना तोहे देखन दूँ"। मिलन में संयोग है, बिछुड़न में वियोग।
जब जीव उसको अपना नहीं बना पाता तब ममता की पराकाष्ठा
होने से रोने-कलपने लगता है। यदि संयोग में आनन्द है तो
वियोग में व्याकुलता, तन्मयता, आशा और उत्सुकता। परन्तु
इस दुःखदायिनी मधुर स्मृति में प्रेम का शुद्ध स्वरूप प्रतिबिम्बित
है। प्रेम की अटूट धारा विरही के हृदय में सदा लहराती है।
वह इष्ट को एक क्षण भी नहीं भुला सकता। विरह का आनन्द
अकथनीय है। वियोग का अकथनीय आनन्द संयोग में कहां
है ?

भक्तों की पहचान तथा चेतावनी

"क्षुरस्य धारा निशितां दुरत्यया दुर्गं पथस्तत
कवयोवदन्ति"—कठोप०

भक्ति एक मनोवृत्ति है अतः उसका
प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। परमार्थ
मार्ग के प्रेमी-यात्री ! तलवार की धार पर तुझे चलना है। मार्ग
विकट और दुर्गम है। सावधान ! सांसारिक वासनाओं के सुन-
हरी तथा चमकीले पदार्थ उन्नति के मार्ग को रोकने के लिये
स्थान २ पर बिखरे हुए हैं। वासनाओं के झकोलों के आगमन
पर अपने द्वार न खोलना। यदि तीव्रगति से मार्ग पर अग्रसर
होना चाहते हो तो इन चमकीले हीरों की ओर से दृष्टि हटालो।
अन्यथा, लोभ-पाश में पड़ कर केवल मात्र रत्न बटोरने में ही
लगे रहोगे। इसके अतिरिक्त इन पत्थरों के बोझ के कारण गति
इतनी मन्द हो जावेगी कि इस दौड़ में सफलता का मुख न देख
सकोगे। प्रेमी ! यदि अपनी प्रिय से प्रिय वासनाओं को छिन्न
भिन्न तथा भस्मीभूत करने का कष्ट सहन करने के लिये उद्यत

नहीं हो तो इस कण्टक पूर्ण दुःखदायी मार्ग पर पदार्पण करने का कष्ट वृथा ही क्यों उठाते हो ? यह कण्टक पूर्ण मार्ग निर्जन वनों, ऊंचे रपटीले पर्वतों तथा भयंकर गुहाओं से होकर जाता है। इस मार्ग की भूमि प्रेम के यात्रियों के लोहू लुहान पैरों के रुधिर द्वारा कंकरों को सिंचित करके, कूट २ कर प्रस्तुत की गई है। यदि इस मार्ग पर चलना है तो रक्त देने के लिये उद्यत रहो।

"आवत देखहिं विषय बयारी।
ते पुनि देहिं कपाट उघारी" ॥ मानस रा० ॥

अनेक भक्तगण दिखावटी 'उन्मादादि' चिन्हों से विभूषित होते हैं, कोई २ कच्चे-पक्के अर्थात् कुछ सच्चे कुछ दिखावा-मात्र और लाखों में कोई एक सच्चा-पक्का होता है। भक्ति करने या क्षमा-प्रार्थना से अपराध क्षमा नहीं हुआ करते। ना ही 'न-मांगने' के कारण दण्ड ही मिलता है। यदि भक्ति द्वारा कर्म-भोग मिटना सम्भव हो तो यह भगवान की न्याय शीलता पर भारी दोष-आरोपण होता है। 'भक्ति द्वारा अपराध क्षमा' पर विश्वास करने वाले जीवों को इसके अतिरिक्त फिर कोई अन्य कर्तव्य शेष नहीं रह जाता कि— वे नित्य अपराध करें, गिड़-गिड़ायें और क्षमा मांगें और क्षमा-प्रार्थना के उपरान्त उसी अपराध की पुनरावृत्ति के लिए पुनः पूर्णतया स्वतन्त्र रहें। भगवान प्रेम स्वरूप हैं। वे प्रेम पूर्वक उचित उपायों से अपने बच्चों की गढ़त करते हैं। कुम्भकार की भांति भीतर से हाथ का सहारा लगायें बाहर से पीट कर सुन्दर पात्र बना देते हैं। अतः यह विचार कि भक्ति अथवा प्रार्थना के उपरान्त जीव दोष करने के लिये स्वतन्त्र है अथवा पाप करने के पश्चात भक्ति-पूर्वक याचना कर लेंगे, भक्ति की आड़ में आखेट करना है। वास्तव

में कोई भी कर्म, कभी भी उस समय तक क्षमा नहीं होता जब तक कि या तो

(i) उसका पूरा २ भुगतान न हो जाय, अथवा

(ii) उस कर्म के संस्कारों को निर्मूल करके भक्त सर्वथा न सुधर जावे,

अथवा (iii) कर्मचक्र के क्षेत्र से बाहर न निकल आवे।

अतः पाखण्ड और दिखावारूपी मानसिक घात से सदा सावधान रहना चाहिये, क्योंकि भक्त जीवन की झूंठी प्रशंसा तथा तज्जनित अहंकार के कारण अनेक भक्त अनजाने ही मक्कारी (धूर्तता) के शिकार हो जाते हैं। पाखण्ड परमार्थ को नष्ट भ्रष्ट करने वाली घातक-छुरी है और परमार्थ का द्वार मक्कार (धूर्त) के लिये सर्वथा बन्द है। आनन्द मार्ग के यात्री का आचरण अत्यन्त उन्नत, निर्मल और त्यागपूर्ण होना चाहिये। बिना इस प्रकार के सर्वोच्च आचरण के इस पथ पर अग्रसर होना, अजगर की मस्तक-मणि के प्रलोभन से हाथ बढ़ा कर विषम ज्वाला में जीवन की आहुती देना है॥

—:o:—

❀ १ (आ)—अनुराग-भक्ति ❀

अनुराग-सोपान

'राग' प्रवर्द्धनशील है। जब राग बढ़ते बढ़ते सीमा के समीपस्थ पहुँच जाता है तो उसे 'भाव' कहते हैं। भाव से ही अनुराग भक्ति का प्रारम्भ होता है। भक्तिमत में प्रथम निष्ठा जागती है और फिर 'भाव' और 'महाभाव' का उदय हो जाता है। भक्ति के पांच भेद हैं—१ अहैतुक, २ उद्दिपनी, ३ ज्ञान, ४ शुद्ध और ५ माधुर्य। भाव

भी पांच प्रकार के होते हैं— १ शान्त, २ दास्य, ३ साख्य, ४ वात्सल्य और ५ माधुर्य्य। भावों की चार दशायें होती हैं— १ भावोदय, २ भावसन्धि (हर्ष शोकादि के मिश्रित भाव), ३ भाव शाबल्य (अनेक भावों का एक साथ उदय होना) और ४ भाव-शान्ति (इष्टदेव की प्राप्ति)। भावों की परिपक्व अवस्था 'माधुर्य्य' है। माधुर्य्य-भाव के चार भेद हैं—१ साधारण (इष्ट मिलन तक प्रेम), २ सामञ्जस (दोनों ओर से प्रेम), ३ एकाङ्गी (पतङ्गे जैसा प्रेम), और ४ समरथा (निज दुख-सुख से उदासीन, केवल प्रभु प्रसन्नता में आत्म समर्पण)॥
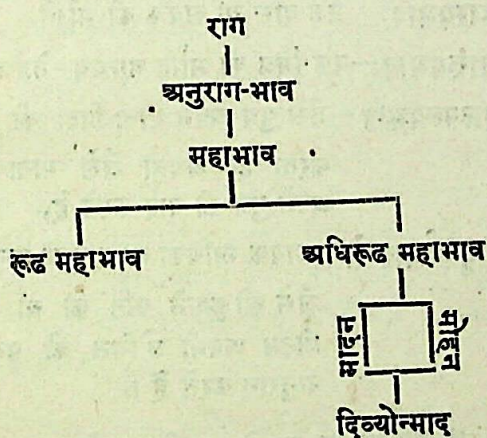
भावों के भी अनेक पद हैं। 'महाभाव' भाव की चरम सीमा है। महाभाव के 'दिव्योन्माद' रूप को ही अनुराग की पराकाष्ठा कहते हैं। और, यहीं से दिव्य प्रेम रूपी शरणागति अवस्था आपही आप आत्मा में प्रज्वलित हो जाती है। जिस मनुष्य के हृदय में भाव नहीं है वह मृत समान जड़ है। जिसका

हृदय नाम के स्मरण मात्र से ही द्रवित नहीं होता, जिसके नेत्र गुरु-दर्शन और वियोग के समय सजल नहीं हो जाते जो सत्संग के अमृत वचनों से गद्गद तथा रोमाञ्चित नहीं हो जाता, वह मनुष्य अनुराग-भक्ति का सर्वथा अनधिकारी है ॥

भाव पञ्चक

भक्त अपने भगवान का ध्यान, नीचे दिये हुए पांच प्राकृतिक भावों द्वारा ही कर सकता है :—

i शान्तभाव— समस्त दशाओं में सम्यभाव से,
ii दास्यभाव— एक दास या सेवक की भाँति,
iii साख्यभाव—एक मित्र की भांति बान्धव-स्नेह द्वारा,
iv वात्सल्यभाव—जैसे पुत्र अपने माता पिता की याद करता है, अथवा जैसे माता-पिता अपने पुत्र की याद करते हैं,
और v माधुर्य्यभाव से—नायक नायिका का परस्पर अनुराग जैसे स्त्री अपने पति को या जैसे प्रीतम अपनी प्रेमिन को परस्पर अनुराग करते हैं ॥

जिस प्रकार केन्द्रिक तार घर के आधीन अनेक सहायक कार्यालय होते हैं और उनका पारस्परिक सम्बन्ध तारों द्वारा स्थापित रहता है, वैसे ही परम्पिता, परम्-आत्मा और उनकी सन्तति-आत्माओं के बीच में पांच भाव गुप्त तारों का काम करते हैं। यदि शाखा तारघरों के यन्त्र ठीक और सक्रिय हों तो वे समाचार परस्पर आदान-प्रदान कर सकते हैं। ये पञ्च भाव समस्त आत्माओं को ठीक तथा उपयोगी बनाने और समस्त दोषों

को सुधारने के लिये पर्य्याप्त हैं। जब ये भाव अपनी प्राकृतिक अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तब समाचारों का आना जाना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार समय और दूरी पर विजय प्राप्त हो जाती है और ये दोनों मनुष्य के आधीन हो जाते हैं। वास्तव में तारघर तार देने के लिये पर्य्याप्त हैं और वह तारन-हार सदा ही जीवों को तार रहा है॥
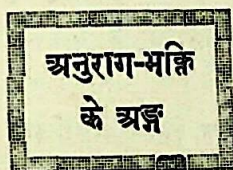
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"। यावज्जीवन कर्म करते रहने का अनुष्ठान उपनिषद् बताते हैं।

'कर्म' सृष्टि का सार्वतन्त्रिक विधान है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्म करने की कुशलता ही को योग कहते हैं। कर्म एक जड़ तत्व है अतः जीव के जड़ बन्धन का कारण है। जड़ बुद्धि जीव ही कर्मों में फँसते हैं। इस कर्म लोक और कर्मयोनि में कर्म किये बिना तो जीव एक क्षण नहीं रह सकता। अतः कुशलता का यही प्रयोजन है कि कर्म ऐसी चतुराई से किये जावें कि कर्म भी यथोचित रूप से हो जावें और वे बन्धन का कारण भी न बनें॥

वैधी=उपाय-भक्ति अर्थात् अपरा-भक्ति या साधन-भक्ति की दूसरी शाखा 'अनुराग-भक्ति' है। उपाय, साधन, विधान तथा अनुराग बिना कर्म और ज्ञान के नहीं हो सकते। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—उसका श्रवण, मनन और निधि-ध्यासन करना अवश्य कर्त्तव्य है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'—इत्यादि प्रमाणों से भी उपाय-भक्ति के अंग--कर्म और ज्ञान हैं। साधन भक्तों को

'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि'--ब्रह्मसूत्र के अनुसार नैमित्तिक कर्म कर्तव्य बताये गये हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं :--

(i) कर्म--नित्य नैमित्तिक शास्त्रविहित कर्त्तव्य,

(ii) विकर्म--शास्त्र विरुद्ध कर्म,

और (iii) अकर्म--जो प्रकृति के कारण अवश्य हो रहे हैं और जिनका कर्तृव्य मनुष्य के मन के आधीन नहीं है।

इस स्थान में 'कर्मों' का प्रयोजन केवल नित्य नैमित्तिक शास्त्रविहित कर्तव्यों से है। ये कर्म तीन प्रकार के हैं:--

(अ) सञ्चित, (आ) प्रारब्ध-आरब्ध कर्म और

(इ) क्रियमाण-अनारब्ध कर्म।

"अप्रारब्ध फलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेते हरिभक्तिरतात्मनाम्।।" ।।पद्मपुराण।।

अर्थ--हरिभक्ति में रत आत्माओं के अप्रारब्ध (सञ्चित+क्रियमाण कर्म) फल, कूट बीज प्रवृत्ति समुदाय क्रमशः नाश हो जाते हैं।

सञ्चित और क्रियमाण कर्म तो ब्रह्म विद्या की शरण में रहने से बहुत कुछ क्षीण होजाते हैं।

'यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषयाभक्ति रुद्धवैनांसि कृतस्नशः' ।। श्री मद्भागवत ।।

जिस प्रकार सुप्रदीप्त अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देती है;

वैसे ही भगवद्विषया प्रेमरूपा भक्ति समस्त पापों को नाश कर देती है। परन्तु प्रारब्ध के आरब्ध कार्यों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रारब्ध कर्म भोगने ही पड़ते हैं। सञ्चित और क्रियमाण कार्य्य भावी प्रारब्ध के बीजरूप हैं। केवल क्रियमाण कर्म ही जीव स्वेच्छानुकूल वर्तमान में कर सकता है और केवल इन्हीं को करने की जीव को स्वतन्त्रता तथा अधिकार है। कर्मों का गुप्त रहस्य ये है :—

(i) कर्म स्वयं किसी भी प्रकार का कोई फल नहीं देते,

(ii) कर्म के साथ जैसी कामना हो उस कामना के अनुकूल ही फल होता है।

अंगूठी चुराने की कामना से किसी की अंगुली काटने वाले चोर को दण्ड मिलता है। परन्तु, सड़ी हुई अंगुली को आरोग्यता प्रदान करने की कामना से काटने वाले डाक्टर को पुरस्कार दिया जाता है। दुष्ट कामना से हत्या करने वाले अपराधी को प्राणदण्ड भोगना पड़ता है परन्तु, आत्मरक्षा में हत्या हो जाने से मनुष्य सम्मानित होता है। दोनों अवस्थाओं में कर्म समान होते हुए भी फल में विभिन्नता है। इस नियम के अनुकूल सकाम कर्म, अर्थात् जिसमें फल की आशा रहती है, जड़-बन्धन में ले जाते हैं। परन्तु, निष्काम कर्म जिनमें फलाशा त्याग कर भगवदार्पण कर्म किया जाता है, मनुष्य को परमानन्द में ले जाता है। यही 'कर्म-कौशल्य' है। कर्म करते समय भावनाओं और कामनाओं को फल की ओर से हटाकर भगवच्चरणों में ही लगाये रखना ही 'कुशलता' है। 'सांप मरे न लाठी टूटे'। कर्म भी होते रहें और फलों से तथा बन्धनों से मुक्ति भी रहे। सारांश यह है कि फलाशा से शून्य भगवदार्पण, कुशलतापूर्वक किये हुए कर्म, कर्म संज्ञा से बाहर माने जाते हैं।

वैधी और स्वाभाविक भक्ति और शरणागति योग

उपाय-भक्ति बिना साधन और उपाय के नहीं हो सकती। वैधी में विधान होना आवश्यक है। विधान उसी का हो सकता है जो प्रयत्न से साध्य हो। अनुराग भी मनोवृत्ति है। प्रेम की एक बारीक किरण कामरूप बन कर संसार को अपनी ममता से वश किये हुए है। काम और राग के भावों को जब अधिकाधिक प्रभु स्मरण में लगा दिया जाता है तो यह भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होकर 'अनुराग' का रूप धारण कर लेता है। प्रेम आत्मा का स्वाभाविक धर्म है और वह भगवदकृपा से किसी विरले भाग्यवान की आत्मा में स्वतः इस प्रकार विकसित हो जाता है जैसे कली के खुलने पर पुष्प की पंखड़ियां एक एक करके बिना प्रयत्न के आप ही आप खिलने लगती हैं। अतः प्रेम प्रयत्न साध्य नहीं है। 'अनुराग' भक्ति में प्रयत्न करना अनिवार्य है। प्रयत्न शास्त्रोक्त विधान से सिद्ध होते हैं। अतः शास्त्र द्वारा सच्चिदानन्द-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। प्रभु के इस परोक्ष ज्ञान और जीव के अभेद-भाव में रहने को 'ज्ञान' कहते हैं। यही ब्रह्म प्राप्ति जब विशेष-रूप धारण कर लेती है तो उसको 'विज्ञान' कहते हैं। इस विशेष-विज्ञान द्वारा जो भाव भक्त के हृदय में उदय होता है उसको 'विशुद्ध-विज्ञान' कहते हैं। विशुद्ध-विज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। प्रभु के गुणों पर मुग्ध होने की दशा में भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का साधन समझ कर स्नेह पूर्वक इस प्रकार प्रभु की निरन्तर याद करने से, कि याद का तार एक क्षण के लिए न टूटे, सिद्धि हो जाती है। अनवरत भावना से ध्यान किया हुआ रूप कुछ काल में दर्शन

समाना कर्ता को प्राप्त हो जाता है। साधन भक्ति द्वारा साक्षात्कार होने पर साध्य-भक्ति स्वतः आविर्भूत होती है।

"स्नेहोभक्तिर्द्विधा वैधी स्वभावानुगता च या।
प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढ़ि योगतः॥"

अर्थ— स्नेह भक्ति है। यह दो प्रकार की हैं— (१) वैधी (शास्त्र प्राप्त) और (२) स्वभाव-प्राप्त। आत्म-समर्पण रूपी भक्ति को प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति भी दो प्रकार की है— १. रूढ़ि-प्राप्त और २. योगप्राप्त॥

रागानुगा-भक्ति और अनुराग-भक्ति दोनों वैधी-भक्ति हैं। प्रेम-भक्ति स्वाभाविक-भक्ति है। अपना समस्त भार भगवान के ऊपर छोड़ कर साम्यभाव में निर्द्वन्द्व रहना 'प्रपत्ति' (शरणागति) है। अपने उद्धार के लिये भगवान की सेवा, स्तुति, प्रार्थना, उपासना रूपी साधन करना वैधी-भक्ति है। अनुराग मनोवृत्ति है और प्रयत्न से सिद्ध होती है। प्रेम आत्मा का गुण है और पुष्प की भाँति निष्कारण खिल पड़ता है। प्रपत्ति सुगन्ध की भांति आत्मा में प्रेम के पुष्पित होने पर स्वतः महकने लगती है। सच्चिदानन्द स्वरूप का निरन्तर ध्यान करने से अविच्छिन्न अनुरक्ति के कारण तद्रूपता प्राप्त हो जाती है। साधन भक्ति द्वारा साक्षात्कार हो जाने पर साध्य भक्ति रूपी कलिका आत्मा में स्वतः पुष्प मञ्जरी बन जाती है और प्रेम-भक्ति का रूप धारण करती है। उसमें से प्रपत्ति की महक स्वतः निकलने लगती है। अतः पूर्ण प्रेम और प्रपत्ति का आविर्भाव केवलमात्र भगवत् कृपा से ही सम्भव है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'—पराविद्या के ज्ञान के लिये गुरु की शरण आवश्यक है। यद्यपि प्रपत्ति की मूल में भक्ति और प्रेम दृढ़ता से स्थापित हैं

तथापि आत्म समर्पण की भावना का प्राधान्य होने के कारण प्रपत्ति को अनेक विद्वान भक्तियोग नहीं कहते वरन् 'शरणागति' को अलग ही योग माना जाता है। वैधी-भक्ति को अपराविद्या तथा व्यवसायात्मिका (बहु शाखा) बुद्धि भी कहते हैं। पराविद्या में प्रेम-भक्ति और शरणागति-योग दोनों का समावेश है।

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्मयत् परावैवापरा च ॥"

अनुराग-भक्ति के साधन

भक्ति के अंग कर्म और ज्ञान हैं। अतः यावज्जीवन (i) नित्त नैमित्तिक कर्त्तव्य, (ii) उपासनात्मक यज्ञ, दान और तप, (iii) श्रवण, मनन और निदिध्यासन, और (iv) आश्रम-धर्म आदि समस्त कर्मों को, यथावत समझकर तथा भक्ति-योग का अंग जान कर, करने की आज्ञा है। वैधी-भक्ति में विधान हैं, अतः कर्मों का अनुष्ठान है। भक्ति में भक्त को एकमात्र भक्ति का ही सहारा होता है। वह समझता है कि भक्ति द्वारा वह अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। अर्थात वह भक्ति को मोक्षसाधन का आवश्यक उपाय समझता है। अनुराग भक्ति में मनुष्य को ज्ञानपूर्वक उस प्रेमस्वरूप भगवान के ध्यान में निरन्तर स्नेहधारा प्रवाहित रखने तथा तद्रूप रहने का प्रयत्न करते रहना पड़ता है। इस काम की सफलता के लिये– १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, और ६ धारणा रूपी ६ अंगों का पालन करना भी आवश्यक होता है। भक्ति का अधिकारी केवल वही होसकता जिस में भक्ति स्वयं करने की सामर्थ हो। अतः भक्ति में कर्तृत्वाभिमान, भक्ति करने की सामर्थ का होना तथा भक्तिमार्ग को मोक्ष का साधन समझना और मानना आवश्यक है। बिना

ऐसी दृढ़ भावना के इस 'चिर-परिश्रम-साध्य' भक्ति के अनुष्ठान में कोई भी प्रवृत्त नहीं होसकता। भक्ति में कर्म का ज्ञान तथा भगवान दोनों सापेक्षित होते हैं। भक्ति निष्पत्ति के लिये परमावश्यक है कि समस्त सकाम-कर्मों से मुख को मोड़ ले और सारे नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को कर्तव्य समझ कर केवल कर्तव्य के हेतु ही, निष्काम-भाव से करता हुआ, भगवदार्पण कर दे। फलों में किसी प्रकार की आसक्ति न रखे॥

साधन सप्तक

"तल्लब्धिर्विवेक विमोकाभ्यासक्रिया कल्याणानव सादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च ॥"

इस वाक्य के अनुसार, भक्तिलाभ करने के लिये साधन सप्तकों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। विना इनके भक्ति की सिद्धि नहीं होती। साधन सप्तक नीचे अर्थाये जाते हैं :

१ विवेक– सोच समझ कर पसीने की कमाई द्वारा प्राप्त, शुद्ध सात्विक भोजन सेवन करना। सार असार का ज्ञान होना।

२ विमोक– विषय वासनाओं और कामनाओं से विरक्ति।

३ अभ्यास– सच्चिदानन्द के शुभगणों तथा दिव्य रूप का नित्य निरन्तर ध्यान और सुमरण।

४ क्रिया– समस्त वर्णाश्रम कर्मों का भगवदार्पण अनुष्ठान।

५ कल्याण– छः प्रकार के हैं :

(i) सत्य- मनसा वाचा कर्मणा जैसे को तैसा समझना, कहना और करना।

(ii) आर्जव- दीनता, सीधा-सादा-आचरण।

(iii) दया- स्नेह दृष्टि, अनुकम्पा ।

(iv) दान- देश, काल और पात्राधिकार के अनुकूल देना।

(v) अहिंसा- मनसा वाचा कर्मणा किसी को दुःख न देना।

(vi) अनभिध्या- परकृत अपकार चिन्ता का अभाव । निष्फल चिन्ता का अभाव। चिन्ता से मुक्ति ॥

६ अनवसाद- प्रभु की मौज में सदा आनन्दित तथा प्रफुल्लित रहना। दिव्य भावों का ग्रहण, दैत्यभावों का अभाव ।

७ अनुद्धर्ष- परमार्थ की कमाई की प्रगति से असंतुष्ट रहना। सदा सचेत, सतर्क, प्रयत्नशील रहना ॥

बीजांकुर न्याय से जीव अनादिकाल से विविध कर्म-बन्धनों में बंधा हुआ नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेता है। कर्मसञ्चय ही संसार है। जब तक सञ्चित कर्म नष्ट नहीं होते आवागमन नहीं मिट सकता और चौरासी के चक्र से मुक्ति नहीं मिल सकती और आनन्द प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्म दो प्रकार के है -- कर्म और विकर्म, अच्छे और बुरे। "पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"-- दोनों प्रकार के कर्म त्यागने पर ही जीव साम्यगति प्राप्त कर सकता है। अतः आवश्यक है कि भक्ति द्वारा सञ्चित-कर्मों के भावी-सञ्चय की वृद्धि को रोकदे और कर्म को 'अकर्म' अर्थात् निष्कर्म (निकम्मा) बनादे और सञ्चितों को भोगने के पश्चात मुक्ति प्राप्त करे। प्रकृति कर्म में युक्त अवश्य करती है। अतः भगवान के चरणों की सेवा, सुमरण, ध्यान और भजन में ही मुक्ति

पर्य्यन्त लगा रहना चाहिये। और, प्रारब्ध-फलों को उपभोग कर कर्म चक्र का अन्त करदेना ही उचित है॥

भक्ति दो प्रकार की है-- वैधी और स्वभावप्राप्त। रागानुगा और अनुराग भक्ति वैधी हैं। वैधी भक्ति में शास्त्रोक्त विधि का अक्षरशः पालन करना होता है और समस्तकर्म करने पड़ते हैं। स्वभाव-प्राप्त भक्ति को 'प्रेम-भक्ति' कहते हैं। अनुराग भक्ति में हृदय खोलकर रखदिया जाता है, परन्तु प्रेम-भक्ति में आत्मा का शुद्ध आवरण-रहित रूप होता है। प्रेमभक्ति नियमों और आचारों के बन्धनों से परे है। यह आत्मा की विषय है। यह तभी आविर्भूत होता है जब मानसिक क्रियाएँ और चेष्टाएँ लौकिक प्रवृत्तिरूपी नहर के फाटक को बन्द करके भगवत्प्रेम की भागीरथी के प्रवाह में प्रवाह मिलाकर आनन्दसागर की ओर अग्रसर होने लगती हैं। भक्ति के दिव्यभाव में आनन्द का अजस्र प्रवाह बहता है, परन्तु वह 'प्रेम' तभी कहलाता है जब उसकी धार जीवन के परम् लक्ष्य की ओर मुड़कर धन्य होजाती है। भक्ति वह मानसिक वृत्ति है जो सच्चिदानन्द के स्नेह से द्रवीभूत होकर निरन्तर उस आनन्द-सागर की ओर बहती हुई भगवद्रूप में समा जाती है॥

—:o:—

❀ साध्य-भक्ति, स्वाभाविक-भक्ति ❀

अथवा

❀ पराविद्या ❀

—:o:—

प्रेम-भक्ति

प्रेम का प्राथमिक रूप अनुराग है। प्रेम क्रय-विक्रय नहीं होता। प्रेम किसी खेत या बगीचे में नहीं उगता। प्रेम-सुरा किसी मद्य-शाला में निष्कर्ष नहीं होती। प्रेम के रँगीले पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। आठों पहर चढ़ा रहने वाला प्रेम का उन्माद खटाई से नहीं उतरता। प्रेम की गङ्गा जेठ मास के ताप से नहीं सूखती। प्रेम प्रेमी के पास मिलता है। प्रेमी को प्रेमी मिलता है। प्रेम का मूल्य प्रेमी के चरणों में 'आत्मसमर्पण' करना है। जब तक जीव तन-मन-धन, मोटी व झीनी वासनाओं सहित सर्वस्व भेंट करके प्रेमी के प्रेम में अपने आपे को लय नहीं कर देता, जब तक दुई एकता में परिणत नहीं हो जाती तब तक जीव को प्रेम का स्वाद नहीं मिल सकता। यह मार्ग अत्यन्त संकुचित है और उसमें दो के लिये स्थान नहीं है।

प्रेमी-भक्त अपने भगवन्त को तीन ही प्रकार से याद करते हैं:

१ तस्यैव अहम् = मैं उसका हूँ, मेरा सब कुछ उसका है।

२ तवैव अहम् = मैं तेरा हूँ, मेरा सब कुछ तेरा है।

३ त्वमेव अहम् = तू ही मैं हूँ, मैं ही तू है; मेरा सर्वस्व तेरा है, तेरा सर्वस्व मेरा है।

अन्तिम वह अवस्था है, जिसमें प्रेम का मतवाला, प्रेम का स्वाद पाकर अपने आपे की सुध-बुध भूल जाता है और उस को अपने भगवन्त के अतिरिक्त और कोई अन्य वस्तु कहीं भी दिखाई नहीं देती। यही वह अवस्था है जिसमें शेर और बकरी एक-घाट पर साथ २ पानी पीते हैं। यही 'अहं-ग्रह' उपासना का सार है। इसी को अभेद उपासना कहते हैं॥

प्रेमियो! प्रभु के प्यारे तुम्हारे मध्य विचर रहे हैं। वे परमानन्द के प्रेमामृत को चारों ओर दोनों हाथों से निःशुल्क लुटा रहे हैं। परन्तु तुमको चेत नहीं है। तुम अब भी प्रभु की ओर से नितान्त बेसुध और निचेष्ट हो। आनन्द सागर के विश्राम द्वीप के यात्रियों के पास शुभ-सन्देशों के अनन्त ढेर लगे हुए हैं। परन्तु वे निज-शान्ति के सुरीलेपन को भङ्ग करने के भय से मौन हैं। सन्त-सतगुरु परम्प्रेम और अनन्त प्रकाश के देदीप्यमान सूर्य हैं। तेरे भीतर जो प्रकाश हो रहा है उसकी ओर दृष्टि कर। उस प्रकाश की परिधि तक पहुंचने के लिये निरन्तर काटता, खोदता और आगे बढ़ता रह। 'खोज और वह तुझको मिलेगा'। उसकी विशाल भुजायें प्रतिक्षण तेरे पास ही विस्तृत हैं। परन्तु, तुझको उनका ज्ञान उस समय तक नहीं होता जब तक आपत्तियों के निरन्तर आक्रमण और प्रत्यक्ष असफलताएँ तुझे घसीट कर निराशा के सागर के किनारे नहीं लगा देतीं और तू उसकी विशाल भुजाओं के स्पर्श से सिहरा कर चौंक नहीं पड़ता। तब ही तुझे ज्ञात होता है कि उसके लम्बे लम्बे स्नेह भरे हाथ प्रत्येक दिशा में तेरे साथ हैं, साथ थे और साथ रहेंगे। अज्ञानवश तू उन्हें नहीं देखता। प्रभु के प्रासाद की चमकती हुई भित्तियां तुझको निमन्त्रित कर रही हैं। मुकुट में लगने योग्य अनमोल रत्न तेरे पैरों में रुल रहे हैं। इन बहुमूल्य रत्नों को ना ठुकरा। सत्य को सिर माथे ग्रहण कर। जो

कोई दे उससे ले। निदान, प्रभु ही तो सत्य का आदिमूल कारण है। जहां प्रकाश है, वहीं प्रेम है, वहीं सन्तोष है और वहीं शान्तिधाम है। प्रेम सदा ही प्रेम में निवास करता है। प्रेम प्रेम के पीछे २ भागा फिरता है। प्रेम की रचना प्रेम है। प्रेम का फल प्रेम है। प्रेम की बाढ़ को कोई मायिक शक्ति नहीं रोक सकती।

"जहां प्रेम तहां नेम नहीं, तहां न बुध व्यौहार।
प्रेम मगन जब मन भया, तब कौन गिने तिथिवार॥"

जिस हृदय में प्रेम नहीं है वह मुरदा है। जो व्यक्ति जीवों से प्रेम करना नहीं जानते, वे अव्यक्त मालिक से कैसे प्रेम कर सकते हैं। प्रेम विहीन मन आत्मघाती और आततायी है। जो देता है वह दिये हुए से अधिक ही सर्वदा पाता है। प्रेम दान करने वाला अपने प्रेम को विस्तृत करता है। प्रेम न करने वाला अर्थात् घृणा और ईर्षा करने वाला अपने प्रेम-प्रसाद को प्रतिक्षण घटाता है। बुराई भूमण्डल से ऊपर नहीं जाती। प्रेम प्रभु के सिंहासन पर चढ़ जाता है। प्रेम के परम्-देव पर विश्वास तथा श्रद्धा करते ही हृदयरूपी मरुस्थल तुरन्त ही मलयागिरि की सुगन्ध से महक उठता है और निर्जन शून्य स्थल सुन्दर गुलाब और नरगिस के बग़ीचों में फूल पड़ता है। वहिर्मुखी मनुष्य! अपने भीतर मुड़। वहां तुझे सच्ची दुनियां दीखेगी। तब तुझे ज्ञात होगा कि प्रेम का प्रसाद तेरे लिये क्या कर रहा है और क्या कर सकता है॥

प्रेम में वैधिक व्यवहार नहीं है। प्रेम में नियम भी नहीं है। प्रेम शिष्टाचार और दिखावटी आदर-भाव नहीं जानता। प्रेम का हेतु नहीं होता। प्रेम से प्रेम होता है। प्रेम का

कारण प्रेम है। प्रेम के लिये प्रेम किया जाता है। प्रेम का पुरस्कार प्रेम है। ईश्वरी भाव में आदरभक्ति आकांक्षित है। उस में आकर्षण होते हुए भी दूर ही से पूजन अपेक्षित है। इसी कारण भक्त के हृदय में भय और लघुता के भाव बने रहते हैं। प्रेम भाव हृदय से चिपटा लेता है। जिस प्रकार बूँद, धार लहर और नदी समुद्र में पहूँचने पर एक होजाते हैं वैसे ही भक्त भगवन्त में दुई को मिटा कर, एक होजाता है। प्रेम के साम्राज्य में वियोग नहीं है। प्रीतम प्रेमी के हृदय में निवास करता है। प्रेमी मालिक है। प्रेमी ही दास है। प्रेम दोष नहीं देखता। प्रेम दोषों में गुण देखता है। दास्यभाव में थोड़ा सा प्रेम और सच्ची सेवा भरी पड़ी है। मित्र सच्चा दास और सच्चा त्यागी है परन्तु अदला-बदला चाहता है। वात्सल्यभाव में सच्ची दासता, मित्रता और बिना बदला चाहे अगाधस्नेहभक्ति होती है। परन्तु प्रेमिन सच्ची दास, मित्र, माता, पुत्र और अपने प्रीतम की लवलीन पतिव्रता स्त्री तथा स्वामिनी है। माधुर्य भाव में सारे भावों का अन्तिम सामञ्जस्य है। यह भाव सर्वोत्कृष्ट तथा मधुर है।

"कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी, धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु वेश्या रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥" (भवभूति)

शान्तभाव में प्रेमिन अपने पति को रक्षक, नेता, और सुख दुःख का सच्चा साथी समझती है दास्य-भाव में पति को देवता समझकर श्रद्धापूर्वक उसकी पूजा और सेवा करती है। साख्यभाव में समस्त कार्य्यों में परामर्श देकर मन्त्री का कार्य्य करती है। वात्सल्यभाव में माता के समान स्नेह, आदर और आग्रहपूर्वक भोजन कराती है, पति की शुभ आकांक्षी रहती है। धाय के समान समस्त मल और दोषों को सहन करती है

और धर्ममार्ग पर स्थापित रखने में स्वामी और अङ्गरक्षक का काम करती है। माधुर्य्यभाव में मधुर से मधुर प्रेमानन्द का प्रकाश करती है। यह भाव अत्यन्त उच्च और दुर्लभ है। माधुर्य्य भाव मनसा-वाचा-कर्मणा आत्मत्याग रूपी प्रेम है। प्रेम आत्मसमर्पण है। विना त्याग का प्रेम ठट्ठा है। शुद्ध-प्रेम प्रीतम को सदा के लिये अपना बन्दी बना लेता है। प्रेमी का प्रत्येक स्वाँस प्रीतम की सेवा के लिये है। संसार के इच्छुक प्रभु से विमुख रहते हैं। स्वर्ग की कामना करने वाले, श्रमजीवी की भांति, अपना वेतन पाते हैं, परन्तु, प्रीतम के प्रेमी परमानन्द का साम्राज्य प्राप्त करते हैं। माधुर्य्यभाव में स्वजन परिजन की इच्छा नहीं रहती। कुल, जाति तथा लाज त्यागने में संकोच नहीं रहता। उन्माद का साम्राज्य होता है। जब यह उन्माद दिव्योन्माद की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तव तन, मन और आत्मभाव का समुचित समर्पण हो जाता है। यही शरणागति-भक्ति का प्रारम्भ मात्र है॥

"नैनों की कर कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डाल कर, पिया को लिया रिझाय॥ १॥
जब मैं था तव गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहिं॥ २।
अपने अपने चोर को, सब ही डारें मार।
मेरा चोर मुझे मिले, तो सर्वस डारूँ वार॥ ३॥
नैन हमारे बावरे, छिन छिन लोढें तुज्झ।
ना तुम मिलो न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुज्झ॥ ४॥
नैनों अन्दर आव तू, नैन झाँप तोहे लेऊँ।
ना मैं देखूँ और को, ना तोहे देखन देऊँ॥ ५॥"

—:o:—

❀ शरणागति-योग ❀

—:०:—

"प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढि योगतः ॥
स्नेह आनन्दधर्मः स्यादानन्दो भगवानिति।
प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोर्भेदोऽनयोर्द्वयोः ॥"

अर्थ— शरणागति या आत्मसमर्पण को प्रपत्ति कहते हैं। यह दो प्रकार की है–१ रूढीप्राप्त और २ योगप्राप्त॥ भगवान आनन्द स्वरूप हैं। आनन्द का स्वाभाविक धर्म 'स्नेह' है। भगवत्स्वीकृति को 'प्रपत्ति' कहते हैं। भक्ति और प्रपत्ति का सम्बन्ध भगवान के साथ भेद और अभेद रूप है॥

स्पष्ट है कि रागानुगा-भक्ति और अनुराग-भक्ति दोनों वैधी होने के कारण तथा भगवान के साथ भेद सम्बन्ध होने के कारण व्यभिचारिणी-भक्ति है। परन्तु प्रेम-भक्ति अभेद सम्बन्ध होने से अव्यभिचारिणी-भक्ति कहलाती है। विषयान्तरों से प्रयुक्त होने के कारण व्यभिचारी है और ब्रह्मभूत-सतगुरु अर्थात् एकमात्र सच्चिदानन्द प्रभु को वरण करने के कारण अव्यभिचारी है। सच्चिदानन्द-परायण निर्मल प्रेम द्वारा ही मनुष्य निर्गुणावस्था प्राप्त कर सकता है। ऐसा मनुष्य 'न शोचति न कांक्षति'—न चिन्ता करता है और न आकांक्षा करता है। अपरा अर्थात् साधन भक्ति द्वारा भी मनुष्य पराभक्ति का अधिकारी हो सकता है। परन्तु यह बात विलम्ब से होती है, जन्मजन्मान्तरों की अपेक्षा होती है। स्वभावज-प्रेम बड़े भाग्य से, अनेक पूर्वसुकृतों के फल स्वरूप भगवत्कृपा से स्वतः उदय हो जाता है।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्, तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥कठो१॥

लक्षण

शरणागति, प्रपत्ति, प्रपदन, न्यास आदि पर्य्यायवाची शब्द हैं। शरण+गति (√गम् त्यर्थे बुद्धयर्थे वा) = भगवान् की शरण में चले जाना अथवा अध्यवसायात्मिका बुद्धि में लीन हो जाना ही '**शरणागति**' है।

'प्र' = प्रकर्षेण, पत्तिः = पदनम् = एकदम भगवान् में चले जाना। प्रपत्ति का *रूढ़ि-अर्थ = 'स्वीकार' है और यौगिक अर्थ = 'न्यास' अर्थात् 'आत्मनिःक्षेप' है। आत्मनः = अपने आप को, निक्षेपः = नितराक्षेपः = एकदम समर्पण कर देना। दोनों अर्थ एक ही हैं। 'स्वीकार' में भेदभाव की झलक है। आत्मनिक्षेप में अभेद भाव है। भगवान द्वारा जीव की स्वीकृति को 'अनुग्रह-(पुष्टि)-प्रपत्ति' कहते हैं। जीव द्वारा भगवत्स्वीकृति को 'मार्यादिक-प्रपत्ति' कहते हैं।

स्वरूप

"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागति ॥"

अर्थ— अन्य उपायान्तर द्वारा असाध्य, अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये अनन्त विश्वास सहित एक ही समर्थ प्रभु से साधन बन जाने की याचना करना '**शरणागति**' है। एकमात्र सच्चिदानन्द ही जिसका अनन्य स्वाभीष्ट लक्ष्य है; वही समर्थ-दयाल जिसका एकमात्र साधन है; उसी पर जिसका दृढ़ विश्वास,

---

*प्रकृति प्रत्यय की ओर ध्यान न देकर, जिसको अनादि-सिद्ध मानलें वह 'रूढी' है।

जो प्रकृति प्रत्यय के अनुसार सिद्ध हो, उसे 'यौगिक' कहते हैं ॥

अनन्य प्रेम और एकमात्र आसरा है; वही जिसकी एकमात्र आशा और सहारा है; वही प्रपन्न है, वही शरणागत है। ऐसी दृढ अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही शरणागति है। शरणागत को दृढ विश्वास होता है कि अभीष्ट सिद्धि उस समर्थ दयाल के अतिरिक्त अन्य किसी से प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु, भक्त को अपनी भक्ति पर भरोसा रहता है। शरणागत में उपायत्व का विरोध है, भक्ति में उपायत्व का ग्रहण है। शरणागत वह नन्हा बालक है जो जगदम्बे के चरणों तक घुटने के बल जाकर केवल माता के मुख की ओर करुणा तथा कातर दृष्टि से निहारता है, जिसमें स्तन तक पहुंचने की भी सामर्थ नहीं है परन्तु जिसको माता स्नेह पूर्वक तुरन्त स्तन के चिपटा लेती है और आनन्द-रस से परिपूर्ण कर देती है। भक्त उस युवक की भांति है जो अपने पैरों पर खड़ा है और स्वावलम्ब तथा स्वसहाय्य पर सर्वथा निभर है। स्वभावत: माता का ध्यान नन्हें बच्चे पर जितना रहता है उतना बड़े पर नहीं ॥

शरणागति और भक्ति-योग में भेद

परमात्मा आनन्द स्वरूप है। आत्मा उसकी अंश है। परन्तु इस मण्डल में आत्मा पर देह का आवरण आजाने से वह रस तथा रूप तिरोहित हो रहा है। अत: जीव को शुद्ध आनन्द का अनुभव अन्तर में नहीं होता। बाह्य पदार्थों में कुछ झलक सी दीख पड़ती है अत: उन्हीं से प्रेम करने लगता है और चौरासी के चक्कर में पड़ जाता है। 'प्रेम' आनन्द का ही धर्मान्तर है अत: आत्मधर्म है एवं नित्य तथा निर्गुण है; निर्गुण होने से अतीन्द्रिय तथा अनिर्वचनीय है। साधनों से न पैदा होता है न घटता बढ़ता है। परन्तु, साधनों द्वारा उसका

मूल, शुद्ध तथा व्यापकरूप प्रकट हो जाता है। प्रेम के प्रभाव से चित्त की कठोरता पिघल जाती है और हृदय में कोमलता का प्रसार हो जाता है और आनन्द की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं। अन्त में यह प्रेम संसार में प्रकाशित होकर स्वतः प्रेमानन्द में विलीन हो जाता है। आवरण आने से तिरोभाव और आवरण हटने से आविर्भाव होता है परन्तु 'प्रेम' की उत्पत्ति नहीं होती। 'प्रेम' तो विना हेतु ही स्वतः प्रकट होता है। स्वभावानुगता भक्ति 'पुष्टि' अर्थात् 'अनुग्रह' का विषय है। वैधी-भक्ति साधनों से प्रकाशित होती है। 'प्रेम-भक्ति' स्वभावानुगता भक्ति है। भगवान का 'अनुग्रह' भगवान का नित्य धर्म है। अतः साधनों से असाध्य है। शरणागति भी स्वभाव प्राप्त है परन्तु इसमें प्रेम का आवेश रहते हुए भी आत्मसमर्पण का प्राधान्य है। अतः शरणागति योग को भक्ति-योग से भिन्न ही समझा जाता है। इसके अतिरिक्त भक्ति योग में भगवत्प्रेम भक्ति का फल है। अतः शरणागति भक्तियोग नहीं कहा जा सकता॥

शरणागति के भेद

शरणागति मार्ग दो प्रकार का है:—

१ पुष्टि-प्रपत्ति—अनुग्रह लब्ध।

और २ मार्यादिक प्रपत्ति

अनुग्रह द्वारा प्राप्त शरणागति भगवत्कृपा-स्वीकृति है। भक्त द्वारा प्राप्त शरणागति मार्यादिक है। मार्जारी (बिल्ली) अपने बच्चे को स्वयं दृढ़ता से पकड़ कर लिये फिरती है। बच्चा अपनी माता (बिल्ली) को अपना सर्वस्व तथा सर्वाधार समझता है और उस पर आत्मसमर्पण कर देता है। बच्चे का पालन-पोषण, जीवन-मरण, चलना-फिरना सब मार्जारी के आधीन हैं। बच्चे के पास अपना कोई साधन नहीं है। परन्तु बन्दर का बच्चा अपनी

माता को कस कर पकड़ता है। बंदरिया उसको इतना नहीं पकड़ती और अपने ही उछल-कूद और खाने-पीने में लगी रहती है। इसी प्रकार भक्तकृत शरणागति मार्योदिक है और वह विशेष मर्यादा से सम्बद्ध है। भगवान् अपने स्वरूप में स्थित अपनी क्रियाएँ यथावत करते चले जाते हैं परन्तु प्रपन्न अपने स्वरूप और चरित्र को मर्यादा के अनुकूल बदल लेता है॥

शरणागति के छः अंग

"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं यथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड् विधाशरणागतिः।"

शरणागति अर्थात् प्रपत्ति योग के ६ अंग हैं। आत्मनिक्षेप शरणागति का पर्य्यायवाची है। इसमें भक्त अपना सारा भार भगवान् पर डाल देता है। वो जो चाहे सो करे। भक्त केवल भगवन्त की मौज में मौज नित्य मिलाता रहता है। और, एक मात्र भगवान को ही रक्षकरूप से स्वीकार करता है। शरणागति में यह स्वतन्त्रता नहीं है कि भक्त जो चाहे सो किया करे। उसके ६ कर्त्तव्य इस प्रकार हैं:—

१ **आनुकूल्यस्य संकल्पः**—जिन कामों से प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त हो उन (दैवी-सम्पत) के ही करने का संकल्प मन में रहना।

२ **प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**—जिन बातों से भगवान की अप्रसन्नता की आशंका हो उन (आसुरी-सम्पत) से दूर रहना।

३ **रक्षिष्यतीति विश्वासः**—यह दृढ विश्वास कि भगवान सदा सर्वदा, सर्वत्र, सर्वभावेन रक्षा करते हैं, कर रहे हैं

और करते रहेंगे। संशय में प्रेम की कमी और नास्तिकता का भाव प्रकट होता है। प्रभु की रक्षा में पूर्ण विश्वास शरणागति का बलवान स्तम्भ है।

४ गोप्तृत्वे वरणं—केवल मात्र भगवान को वरण करना, अपनाना अर्थात् सतीत्वभाव। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को मन में स्थान नहीं देना। मन, वचन, इन्द्रिय, काया और समस्त वासनाओं और कामनाओं को केवल प्रीतम में स्थित कर देना और भगवान के आवरण में स्वयं गुप्त रहना। अर्थात् प्रभु को अपने भीतर स्थापित कर लेना। आत्मा को प्रभु में स्थापित कर देना।

५ आत्मनिक्षेप—तन, मन (समस्त कामनाओं, वासनाओं और क्रियाओं) सहित आत्मा को अर्थात् अपना सर्वस्व भगवान में समर्पण करके एक रूप हो जाना। अपनी पृथक् सत्ता मिटा देना। दुई मिटा कर एक रूप हो जाना। आत्मनः नितरां क्षेपः।

६ कार्पण्य—दीनता। कर्तृत्वाभिमान त्याग। अपनी असमर्थता और भगवान की सर्वशक्तिमानता का सदा ध्यान रहना। जब प्रभु सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं तो उनसे अन्य कौन संसार में है जो शक्तिवाला हो सकता है। जब सब शक्तियाँ प्रभु के पास हैं तो फिर शक्ति ही कहाँ और कौनसी बाक़ी है जिसको कोई दूसरा अपना सके॥

इस प्रकार भगवान की 'सर्वव्यापक-रक्षा' की सर्वसमर्थता पर दृढ़ विश्वास पूर्वक आत्मनिक्षेप करना शरणागति या प्रपत्ति-

योग कहलाता है। पुष्टि-प्रपत्ति और मार्यादिक प्रपत्ति दोनों में 'आत्मनिक्षेप', सायुज्यगति पर्य्यन्त, अनिवार्य लक्षण माना गया है। पुष्टि-प्रपत्ति में आत्मनिक्षेप दृढ़ होता है परन्तु, मार्यादिक प्रपत्ति में साधनान्तरों के सहयोग के कारण 'आत्मनिक्षेप' किञ्चित् शिथिल होता है।

'मर्यादा-पुष्टि-सम्मिश्रित-प्रपत्ति' में अनुग्रह-प्रपत्ति' और मार्यादिक प्रपत्ति का सम्मिश्रण होता है। भगवान और प्रपन्न दोनों अपने २ धर्मों का त्याग करके एक दूसरे को दृढ़ता से वरण करते हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" ॥ गी० १८.६६ ॥

तू मुझको दृढ़ता से पकड़ और मैं तुझको दृढ़ता से पकड़े हुए हूं। मैं तेरा साथी तक बनने को तय्यार हूं। परतु प्रतिज्ञा यह है कि सब कुछ छोड़ कर एक चरण-शरण धारण कर।

मार्यादिक प्रपत्ति में भगवान और प्रपन्न दोनों में से कोई भी अपने २ धर्म का परित्याग नहीं करता और न एक दूसरे का परिहास या तिरस्कार ही करता है। आत्मनिक्षेप और प्रेम-प्रकर्ष की न्यूनता दोनों ओर पाई जाती है।

अनुग्रहलब्ध (पुष्टि) प्रपत्ति में अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं होता। अनुग्रह-प्रपत्ति में उल्टे भगवान को प्रपन्न की अनुकूलता का ग्रहण और प्रतिकूलता का परित्याग करना पड़ता है। दोनों का पारस्परिक स्वीकार अनुग्रह के कारण अत्यन्त दृढ़ होता है। परस्पर आत्मनिक्षेप होने के कारण पारस्परिक प्रेम-प्रकर्ष और एकत्व भी होता है। अतः अनुग्रहलब्ध-प्रपत्ति को ही सच्ची शरणागति कहते हैं। जो

शरणागति ग्रहण करके अन्य धर्मों का ग्रहण करते हैं उनको प्रपत्ति त्याग देती है। शरणागति योगी और चातक का जीवन एक समान है। स्वाँति की बूँद के अतिरिक्त अन्य किसी जल को न चातक ताकता है और न ग्रहण करता है वरन् मृत्यु को अन्य जल से अधिक प्रिय समझता है॥

"अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः"।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ जीव के साथ संयुक्त हैं। परन्तु जब प्रपन्न-धर्मी के साथ संयुक्त होजाता है तो एकत्व और आत्मनिक्षेप के साथ २ सब विषयों का वासना सहित परित्याग होने पर ही चरण-शरण स्वीकार होती है। अतः सच्चे प्रपन्न को नरक, स्वर्ग, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, मान आदि से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। प्रपन्न को तो मुक्ति की भी आकांक्षा नहीं रहती। प्रपन्न तो केवल एक ही आशा और एक ही विश्वास लक्ष्य में रखता है— 'यहाँ भी सच्चिदानन्द के चरणों की छाँह में अन्तरी और बाह्य सत्संग और वहाँ भी सच्चिदानन्द के अटल आनन्दसागर में लवलीन तथा एकत्व-भाव में स्थिति'। इस भावना में अन्याश्रय और अविश्वास का सर्वथा परित्याग है।

न्यास

शरणागति का दूसरा नाम 'न्यास' है। 'न्यास' अर्थात 'नितरा निक्षेपः' का अर्थ आत्मसमर्पण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सहित समस्त कामनाओं और वासनाओं की पूर्णाहुति तथा स्वालम्बन और स्वसहाय्य अर्थात् अपने ऊपर भरोसा तथा अपनी सामर्थ, योग्यता, तथा बुद्धि का सहारा, संरक्षता तथा फल का प्रभु चरणों पर भगवदार्पण पर्यन्त ही 'निक्षेप' कहलाता है। तदुपरान्त 'दुई' दूर हो जाती है और प्रपन्न सच्चिदानन्द प्रभु के

भरोसे पर अपनी जीवन नौका छोड़ देता है, तथा स्वरक्षण से सम्बन्ध तोड़ कर अपना सारा भार प्रभु पर डाल देता है। स्वात्म-रक्षणभार समुचित रूप से अर्पण कर देने पर ही सच्ची शरणागति लाभ होती है। शरणागति-योग को वैडाली (मार्जारी) वृत्ति कहते हैं। शेष समस्त साधन भक्ति योग वानर वृत्ति कहलाते हैं।

आर्त्ता

शरणागति दो प्रकार की है—

१. आर्त्ता और २. दृप्ता।

आर्ता शरणागति 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' है। ब्रह्मनिष्ठ सतगुरु के अमृत वचनों के प्रसाद से अल्पज्ञ जीव को तत्वज्ञान का दर्शन हो जाने पर जब जीव को अपना शरीर भी साक्षात्कार के मार्ग में विघ्नरूप भार दिखाई देने लगता है तब वह आर्त्त भाव से प्रभु की शरणागति ग्रहण करता है।

"नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस् तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥कठोप०॥

"कबहुँक करि करुना नर देही,
देत ईस बिनु हेतु सनेही"। मानस० ॥

दृप्ता

परन्तु जब जीव जन्मजन्मान्तरों के अनुभव के कारण आवागमन से विरक्त होकर तथा पूर्व जन्मों की कमाई के फलस्वरूप स्व-पर-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, तथा भगवत्स्वरूप-सतगुरु के प्रताप तथा कृपा से, व्याप्य-व्यापक-अशक्तसर्वशक्तिमत्-अल्पज्ञ सर्वज्ञ भाव से, रक्ष्यरक्षक भाव को ग्रहण करता है और उस सच्चिदानन्द प्रभु को ही अपना एक मात्र साधन समझ कर अपना समस्त भार उस प्रेमस्वरूप की दया और मेहर के सहारे, छोड़ देता है, तब वह दृप्ता-शरणागति योग का प्रपन्न कहलाता है॥

"सम्मुख होय जीव मोहि जबहि,
जनम कोटि अघ नासौं तबहि" । मानस० ॥

भक्ति योग और शरणागति-योग का वैलक्षण्य

भक्ति योग	शरणागति-योग
१. भक्ति के अंग कर्म और ज्ञान हैं। भक्त को अपनी भक्ति का आसरा रहता है और वह भक्ति पूर्वक शास्त्रोक्त समस्त नैमित्तिक, वर्णाश्रम कर्तव्यों के विधान का अक्षरशः पालन करता है। अन्यान्य उपचारों के कारण भक्तियोग में व्यभिचार की गन्ध रहती है। भक्त को कर्तृत्वाभिमान रहता है। कर्मज्ञान और भगवान सापेक्षित होते हैं॥	१. आत्मनिक्षेप ही शरणागति का एकमात्र अंग है। प्रपन्न को एकमात्र स्वतन्त्र भगवान का निश्चित सहारा रहता है। वही साध्य है और वही साधना आत्मावलम्बन का लोप है। अहंभाव की कठोरता चूर्ण हो जाती है। हृदय द्रवित हो कर दीनता के भावों से परिपूर्ण रहता है। यह अनन्य-प्रेम है, यह सच्चा सतीत्व है। स्वाभीष्ट अनन्य साध्य में दृढ़ विश्वास तथा अनन्य-प्रीति होती है। उसी की आशा, उसी की अभिलाषा, उसी पर विश्वास, उसी का आसरा, वही दाता. और वही दान है॥
२. कर्मों का अनुष्ठान यावज्जीवन करना पडता है।	२. चञ्चल मन के निग्रह के लिये केवल मात्र भगवत्

भक्तियोग	शरणागति-योग
विधान में थोड़ा सा भी चूक जाने से प्रत्ययवाय-दोष आ जाता है और कर्म नष्ट हो जाता है। अतः निरन्तर सचेष्ट अभ्यास की आवश्यकता रहती है और लक्ष्य की प्राप्ति दुःसाध्य होती है॥	शरण अपेक्षित है। अतः यह मार्ग निरपेक्ष है। शरणागति में कोई अन्य कर्तव्य करना शेष नहीं रहता। नित्य नैमित्तिक कर्म कर्तव्य दृष्टि से, निष्काम-भाव द्वारा, फल की इच्छा त्याग कर किये जाते हैं। प्रत्ययवाय-दोष और अभ्यास-भंग होकर कर्मभृष्ट होने की कोई आशंका नहीं रहती। शरणागति अत्यन्त सुसाध्य है और लक्ष्य मुट्ठी में ही रहता है॥
३. भक्तियोग वैधी है अतः अनेकानेक कष्टों द्वारा साध्य है। यह बानरी वृत्ति है। साधक स्वसाधन पर स्वावलम्बित रहता है। थोड़ी सी भी असावधानी से भक्ति का पता भी नहीं चलता। अनवरत भावना प्रवाह की आवश्यकता है। उस	३. शरणागति स्वभाव प्राप्य है अतः सुलभ तथा सुसाध्य है। यह विड़ाली वृत्ति है। अपने बल पर तनिक भी भरोसा नहीं रहता। स्वभाविक वृत्ति नित्य तथा स्वधर्म होने से निःशङ्क है।

भक्तियोग	शरणागति-योग
पर भी भाव सद्रूपता का भय बना रहता है ॥	
४. आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भक्त ऐहिक फल प्राप्त करते हैं और मोक्ष की आकांक्षा रखते हैं। भक्ति द्वारा अनारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं परन्तु, प्रारब्ध और आरब्ध कर्मों के क्षय करने के लिये अनेक जन्म पर्य्यन्त फल उपभोग करने पड़ते हैं। जब तक सारे कर्म-फल क्षय नहीं हो जाते, मोक्ष प्राप्त नहीं होती ॥	४. 'अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तद वधेः'—वेदान्त ॥ आर्त शरणागत तत्काल मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानी-शरणागत जीवन पर्य्यन्त प्रारब्ध-कर्मों के फलों को उपभोग कर शरीरा-वसान के समय में भगवान में विलीन हो जाते हैं और जीते जी जीवन्मुक्त रहते हैं। शरणागत होते ही तत्काल फल मिलता है। जीवन्मुक्त रहते हुए, उसी जन्म में कर्म भोग समाप्त कर, मुक्त होजाते हैं। शरणागत तत्काल साध्य है और तुरतकृत्कृत्य हो जाती है ॥
५. भक्ति विलम्ब से फल देती है। और, अन्तकाल में भगवत्स्मृति रहने पर ही फली-भूत होती है। प्रयत्न साध्य है। बिना सिद्धि मुक्ति नहीं। अतः मुक्ति अनिश्चित है।	५. शरणागत का उभयतः कल्याण है। यदि अपनालिया तो तत्काल कल्याण है। यदि नहीं अपनाया तो शरणागत की लाज रखनी ही पड़ती है। शरण में आया सदोष भी

भक्तियोग	शरणागति-योग
'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।' 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'	शरण्य द्वारा रक्षणीय ही है और उसे अवश अपनाना ही पड़ता है। शरणागत के दोष उपेक्षनीय हैं। 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'
६. भक्त को निष्काम कर्म करने का विधान है ॥	६. शरणागत केवल मात्र शरीरयात्रारूपी 'अकर्म' करते हैं जिनके करने से कोई फल नहीं मिलता और न करने से प्रत्यवाय भी नहीं होता ॥

"आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः ।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥" बाल्मीकि लं० कां० ॥
"वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ।"
"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ॥"